सप्तम अध्याय

उपसंहार एवं निष्कर्ष

उपसंहार एवं निष्कर्ष

पिछले अध्यायों में प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भक्ति-काव्य परम्परा में जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य का जो अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है, उसके समारोप के लिए यह उपयुक्त होगा कि भारत की अन्य भक्ति परम्पराओं और हिन्दी के सन्त साहित्य की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात कर लिया जाये। इससे जैन भक्ति की मौलिक विशेषताओं तथा हिन्दी पद साहित्य में जैन कवियों के पदों का मूल्यांकन करने में सरलता होगी। इस बात का आकलन करना भी आसान होगा कि भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में विभिन्न परम्पराओं का अवदान क्या है।

भारतवर्ष में भक्ति की अनेक परम्पराएं विकसित हुईं, किन्तु उनमेंसे भागवत् सम्प्रदाय ने भक्ति के नभोमण्डल को इतना परिव्याप्त कर लिया था कि यहां के प्राचीन साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग उससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है और जब भारतीय भक्ति साधना की बात आती है तो तत्काल भागवद् भक्ति ही सामने आ जाती है। वास्तव में भागवद् भक्ति उन अनेक भक्ति साधनाओं की परम्पराओं में से एक परम्परा है जो भारत में युगों-युगों में विकसित हुई। यहां इस संदर्भ में उन परम्पराओंका सिंहावलोकन कर लेना उचित समझते हैं, जिन्होंने भारतीय जीवन-पद्धति को विशेष रूप से प्रभावित किया।

भागवतभक्ति

पुराणों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वेदों और उपनिषदों में जिस परमतत्व के स्वरूप और महिमा का वर्णन किया गया है, वह सर्वसाधारण की बुद्धि से परे असाधारण दार्शनिक प्रज्ञा की अपेक्षा रखता था, अतः महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उस गूढ़ परमतत्व को सरस, सुबोध भाषा में लिख कर मुख्य पुराणों की रचना की है। पुराणों में वैष्णव-धर्म का इतिहास एवं चर्या निहित है। अठारह पुराणों में लगभग सौ पुराणों का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से नितान्त स्फुट है।

मत्स्य, कूर्म, वाराह और वामन पुराण विष्णु के चार अवतारों के उद्देश्य स्वरूप तथा नारद, ब्रह्म-वैवर्त, पद्म, विष्णु और श्रीमद्भागवत पुराण विष्णु के आध्यात्मिक स्वरूप एवं महिमा की प्रतिष्ठा करने के लिए रचे गये हैं।

समस्त पुराणों में श्रीमद्भागवत को भक्ति-शास्त्र का सर्वस्व माना गया है तथा वेद रूपी कल्पद्रुम का परिपक्व फल कहा गया है, जिसे शुकदेव ने अपनी मधुर वाणी के द्वारा पीयूषवर्षी बना डाला है[१]। वल्लभाचार्य ने भागवत् को महर्षि व्यास देव की 'समाधि भाषा' माना है। वैष्णव-धर्म के अन्तर-कालीन समस्त सम्प्रदाय--वल्लभ, चैतन्य आदि भागवत् से अनुप्राणित हैं। भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले शाण्डिल्यभक्ति सूत्र एवं नारदभक्ति सूत्र भी इससे प्रभावित हुए जान पड़ते हैं।

भागवत में भगवान् की विभूतियों, सगुण अवतारों तथा लीलाओं का बड़ा ही रस-पूर्ण वर्णन किया गया है। ब्रह्मादि सब देवता भगवान् का गुणगान करते हुए भी उनके तात्विक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं[२]। भगवान् विशुद्ध केवल ज्ञानस्वरूप, सत्य, पूर्ण, अनादि, अनन्त, नित्य, निर्गुण और अद्वय हैं[३]। भागवत् का अध्यात्मपक्ष पूर्ण अद्वैतपरक तथा व्यवहारपक्ष विशुद्ध भक्ति-परक है। अद्वैत-ज्ञान के साथ भक्ति का समन्वय भागवत् की विशेषता है। भागवतकार निर्गुण-सगुण, जीव-जगत्, सब कुछ ब्रह्म को ही मानता है। ब्रह्म स्वयंस्वरूपतः निर्गुण है। माया के संयोग से सगुण, अविद्याजन्य प्रतिबिम्ब रूप में जीव और विवर्त रूप में जगत् बन जाते हैं। मुनिगण जिसे ब्रह्म कह कर पुकारते हैं, वही परमपुरुष भगवान् का स्वरूप है। वे नित्यानन्द रूप, अशोक, शान्त, अभय, सत्-असत् से परे आत्म-तत्वरूप हैं। शब्दों के द्वारा उनका प्रकाशन असम्भव है[४]। भागवत् में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों के समान ही किया

१- भागवत् पुराण, १।१।२
२- वही, २।६।३६
३- वही, २।९।६२
४- वही, २।७।४७

गया है। जिस परम प्रभु को योगी लोग 'ऐसा नहीं, ऐसा नहीं,' सम्बोधित कुछ करते हुए तद्भिन्न पदार्थों के त्यक्ताभिलाषी बन अनन्य प्रेम से आलिंगन करते रहते हैं, उसी को विष्णु का परमपद कहा जाता है[५]।

परमात्मा संसार की उत्पत्ति का निमित्त व उपादान दोनों कारण है, परन्तु उसका कोई कारण नहीं है। वह स्वयम्भू स्वयं स्थित है। इसी तरह इस जगत् को धारण करने वाली शक्ति या नियम भी वही है और वही उसके प्रलय का कारण है। मूल-तत्व आत्मा है, व्यापक-तत्व ब्रह्म है। सत्य से आत्मा की प्राप्ति है और आत्मा की प्राप्ति ब्रह्म है। यह आत्मा देह-बद्ध हो कर जीवात्मा हो जाता है और देह-विकारों से रहित होने पर परमात्मा हो जाता है[६]। चित ही हमारे शरीर में सबसे अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली अंश है। ब्रह्माण्ड में जो शक्ति चेतना, ज्ञान व क्रिया रूप में पायी जाती है वही शरीर में एकत्र हो कर ज्ञाता व कर्ता के रूप में उपलब्ध होती है। समष्टिगत से वह व्यष्टिगत हो जाती है, अतः परमात्मा को पहचानने के लिए चित पर ही प्रक्रिया करने की, उसी का सहारा लेने की आवश्यकता है।

भागवत, भक्तिशास्त्र का विश्वकोष माना जाता है। इसमें भक्ति के तत्वों एवं प्रेम-सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भक्ति के दो प्रधान भेद माने गये हैं -- (१) साधन रूप -- वैध और रागा, (२) साध्य रूप -- प्रेमा या प्रेमलक्षणा। भक्ति तो हृदय का अनन्य भाव है जो बिना किसी अन्य अभिलाषा के निष्--निर्हेतुक भगवान् के प्रति हुआ करता है। हरिभाऊ उपाध्याय के कथनानुसार 'भक्ति मन की दौड़ है। मन जिसे चाहता है उसकी तरफ दौड़ता है। इसी तरह वह जिसे चाहता है उसे अपनी तरफ खींचता भी है। यही आकर्षण-क्रिया भक्ति का बीज है। जब इसका रूप आकर्षक हो जाता है, प्रेम वसमर्पणोत्सुक हो

५- भागवत् पुराण, २।२।१८

६- हरिभाऊ उपाध्याय, भागवत् धर्म, ३।३५, पृष्ठ ६२

जाता है तब यह भक्ति कहलाती है।[७] साध्यरूप प्रेमलक्षणा भक्ति का अनन्य अव्यभिचारी, एकान्त और अन्य भाव-संस्पर्श शून्य चित्त का निर्मलतम प्रवाह कहा गया है। जो निरन्तर अविच्छिन्न गति से भगवान् की ओर बहता रहता है। श्रीमद्भागवत में ज्ञान और कर्म में भक्ति को उच्चस्थान प्रदान किया गया है। उसके माहात्म्य प्रकरण में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की सन्तान कहा गया है। जिनके हृदय में एक मात्र श्रीहरि की भक्ति निवास करती है, वे त्रिलोक में अत्यन्त निर्धन होने पर भी परम धन्य हैं क्योंकि इस भक्ति की डोर से बंध कर तो साक्षात् भगवान् भी अपना परमधाम छोड़ कर उनके हृदय में आकर बस जाते हैं।[८]

ज्ञान की हीनता दिखलाने के लिए भागवतकार ने एक बड़ी ही रोचक और व्यावहारिक उपमा की अवतारणा की है। हे भगवान्! कल्याण करने वाली आपकी भक्ति को छोड़ कर जो प्राणी केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए क्लेश उठाते हैं उनके हाथ केवल क्लेश ही लगता है जिस प्रकार भुसा काटने वाले को अन्न की प्राप्ति न हो कर केवल परिश्रम ही प्राप्त होता है।[९] भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् स्वयं भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए उद्धव से कहते हैं कि हे सखे, जो सब ओर से निरपेक्ष-बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदि की आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरण को सब प्रकार से मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्द स्वरूप में उसकी आत्मा के रूप में स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुख का अनुभव करता है वह विषय लोलुप प्राणियों को किसी प्रकार नहीं मिल सकता। जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है वह मुझे छोड़ कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है, न देवराज इन्द्र का, न उसके मन में सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा होती है और न वह स्वर्ग का ही स्वामी होना चाहता है। वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता। हे उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढेर को भी जला

७- हरिभक्ति उपाध्याय, भागवत धर्म, अध्याय ३।४०।६८

८- श्रीमद्भागवत, ३।७३

९- वही, १०।१४।४

कर साफ कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति समस्त पाप-राशि को पूर्णतया जला डालती है। योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-अनुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मुझे प्राप्त कराने में उतने समर्थ नहीं हैं जितनी दिनों-दिन बढ़ने वाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति।[१०] जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद् हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षण के लिए भी रोने का तांता नहीं टूटता, जो कभी-कभी खिलखिला कर हंसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़ कर ऊंचे स्वर से गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है -- मेरा वह भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है। जैसे आग में तपाने से सोना मैल छोड़ देता है और निखर कर अपने असली शुद्ध रूप में आ जाता है वैसे ही मेरे भक्ति-योग के द्वारा आत्मा कर्मवासनाओं से मुक्त हो कर मुझ को ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूं।[११] भागवत में भक्ति के नौ प्रकार के साधनों का उल्लेख है -- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन या शरणागति।[१२]

भागवत में सगुण साकार भगवान् के अनेक अवतार और चरित्र लीलाओं का गान करते हुए भी उनका शुद्ध स्वरूप निर्गुण, निराकार बतलाया गया है। उसकी भक्ति का उसमें विरोध न हो कर वह अमृत-तत्व का कारण मानी गयी है। भागवत-प्राप्ति का एक मात्र उपाय प्रभु की साध्यरूप प्रेमलक्षणा भक्ति ही है। इस अमूल्य भक्ति को पा कर भक्त बड़ी-बड़ी योगसिद्धियां और मोक्ष को भी हेय समझता है। भक्ति की एक-निष्ठता की ज्वाला में जाति-दोष, कर्म-विपाक तथा पाप-राशि भस्म हो जाती है और साधक शुद्धात्मा हो कर भागवद्रूप हो जाता है।

संक्षेप में भागवत में प्रतिपादित भक्ति की अवधारणा, स्वरूप, प्रकार, प्रयोजन, उपलब्धि का यही रूप है।

१०- श्रीमद्भागवत, ११।१४।१९-२१

११- वही, ११।१४।२३-२५

१२- वही, ७।५।२३-२४

वैष्णव-भक्ति

भागवद् भक्ति के बाद उसी की शृंखला में हमारा ध्यान वैष्णव भक्ति की ओर जाता है। 'विष्णु' शब्द की उत्पत्ति 'विष्लृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है व्याप्त होना। जो व्यापक है, वह विष्णु है। वैष्णव धर्म में भगवान् विष्णु और उनके अवतारों की उपासना ही प्रधान मानी जाती है। ऋग्वेद में विष्णु से सम्बन्धित ६७७ सूक्त प्राप्त होते हैं। मैकडानेल के मतानुसार ऋग्वेद में विष्णु एक साधारण देवता के रूप में चित्रित किये गये हैं। ऋग्वेद (१।१५४) के विष्णु-सूक्त में जिस विष्णु का यशोगान किया गया है, वह सूर्य के रूप में हैं, क्योंकि सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा समस्त संसार में व्याप्त है और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देने के कारण 'त्रिविक्रम' कहलाता है। विष्णु-सहस्रनाम में विष्णु की महत्ता और गुणों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार वैदिक देव विष्णु, जागतिक देव नारायण और ऐतिहासिक देव वासुदेव कृष्ण, तीनों वैष्णवधर्म के आराध्य देव बनते हैं। गोपाल कृष्ण की लीलाएं इन्हीं के साथ बाद में संयुक्त हो जाती हैं। वैष्णव धर्म के विष्णु, हरि, कृष्ण और नारायण चारों देव एक ही हैं। इस मत का प्रतिपादन अग्निपुराण (अ० ७०) में हुआ है।[१३]

वेदों में भक्ति का उद्गम खोजते हुए उपनिषद्, पांचरात्र, गीता, भागवत एवं शास्त्रीय व्याख्या करने वाले ब्रह्म-द्वय के आधार पर भक्ति-धारा में अवगाहन करने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि भक्ति की दो शाखाएं हैं -- प्रथम वैदिक या औपनिषदिक भक्ति और द्वितीय आगमिक, तान्त्रिक अथवा स्मार्त। पहले प्रकार की भक्ति वेद और उपनिषदों पर आधारित है और द्वितीय आगम अथवा स्मृति ग्रन्थों पर। सात्वत धर्म का अन्तिम विकसित रूप पांचरात्र धर्म था। इसे परिस्थितियों के अनुसार अनेक नवीन बातों को अपनाना पड़ा। निरीश्वरवादी जैन एवं बौद्ध धर्मों से प्रेरणा ग्रहण कर सात्वत धर्म अन्य कई विशिष्ट धार्मिक विचारों के साथ समन्वित हो कर वैष्णव-धर्म बन गया। वैदिक अथवा औपनिषदिक ब्रह्म तथा स्मार्तोक्त वासुदेव का समन्वय गीता

१३- डा० मुंशीराम शर्मा, भक्ति का विकास, पृ० ३३०

की विशेषता है। गीता द्वारा प्रतिपादित इस सामंजस्यपूर्ण निष्ठा को नवीन वैष्णव-धर्म ने बड़ी रुचि के साथ अपनाया। भागवत में निर्गुण रूप के साथ भगवान् के अनन्त अवतारोंकी भी चर्चा की गयी है। अवतारवाद का यह व्यापक और उदार सिद्धान्त तत्कालीन समस्त परस्पर विरोधी धर्मों को समेट कर एक कर लेने की अपने में अद्भुत क्षमता रखताहै। इसी समन्वय के कारण वैदिक तथा अन्य विरोधी मतों को पचा कर वैष्णव धर्म प्रबल हो उठा और सुदूर बाली, जावा, सुमात्रा और कम्बोज देश तक उसका व्यापक प्रचार हुआ।[१४]

वैष्णव भक्ति के प्रसार के पांच युग माने जाते हैं। भगवान् के प्रति ज्ञान-ध्यान एवं निवृत्ति प्रधान आरम्भिक युग को विद्वानों ने वैष्णव भक्ति का प्रथम युग माना है। राजा वसु उपरिचर के साथ द्वितीय युग प्रारम्भ होता है, जिसमें अहिंसक यज्ञों की प्रधानता थी। यह युग, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की सम्मिलन भूमि पर स्थित था। महाभारत के काल पर राजा उपरिचर के पश्चात् वैष्णवी भक्ति की धारा लुप्त-प्राय सी जान पड़ती है और पुनः द्वापर के अन्त में कृष्ण के द्वारा उसका उद्धार होता है। उन्हीं के साथ वैष्णव भक्ति के तृतीय युग का प्रारम्भ होता है। गीता में वे ज्ञानयोग की प्रशंसा करते हुए भी अन्त में निष्कर्ष रूप में यही कहते हैं --- सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" यही भक्ति भावना गीता की आत्मा है। इस युग में अवतारवाद की प्रतिष्ठा का बाहुल्य हो जाता है। मत्स्य, कूर्म, वराह जैसे प्राणी भगवान् की विभूतियों के केन्द्र मान लिये जाते हैं। उपासकों का ध्यान भगवान् के सृष्टि-निर्माणपरक गुणों की अपेक्षा ऐश्वर्यों की ओर अधिक रुचि लेने लगता है।

वैष्णव भक्ति के चतुर्थ युग में मूर्ति पूजा का प्रारम्भ होता है। मन्दिरों के निर्माण के साथ विपुल शृंगार-सज्जा से विभूषित देव-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की जाती है। आन्तरिक ध्यान और उपासना के स्थान पर बहिर्मुखी प्रवृत्ति का जन्म होता है। षोडशोपचार में कलश, शंख, घंटी, पुष्प, धूप-दीप आवाहन, आसन,

---

१४- डा० केसनीप्रसाद, मध्यकालीन हिन्दीसन्त:विचार और परम्परा, पृ० ५०-५१

अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, नैवेद्य, ताम्बूल, आरती, परिक्रमा आदि सम्मिलित कर लिये जाते हैं। इनमें कुछ वस्तुएं वातावरण को पवित्र करने तथा कुछ मानसिक शुद्धि के लिए हैं।

वैष्णव भक्ति के चतुर्थ युग की विशेषताएं जन-परम्परा मेंपोषित दक्षिण के आड्वार सन्तों और शास्त्रीय पद्धति के अनुयायी आचार्यों में भी दिखाई पड़ती है। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म को राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठा दी गयी। इस काल में विष्णु के विभिन्न रूपों और नाना अवतारों की मूर्तियों का निर्माण इतनी मधुरिमा के साथ होता है कि कला पारखी उन्हेंदेख कर आत्म-विस्मृत हो जाता है। इसी युग में पौराणिकों ने निर्गुण ब्रह्म को लोकग्राह्य बनाने के लिए साकार रूप प्रदान किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन रूपों में प्रभु की सृजन, पालन तथा संहारक शक्तियों का मान्वीकरण किया गया और लोकरंजन की भावना से भगवान् के नाम, रूप और लीलाओं का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया गया।

वैष्णव भक्ति के पंचम युग में भगवान् की लीलाओं को विशिष्ट रूप से स्थान मिला। दक्षिण के आड्वार भक्तों ने सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक प्रेमपूर्ण ललित-वचनों से जनता को आत्मविभोर करदिया था। तत्पश्चात् मध्ययुग के प्रसिद्ध आचार्यों -- रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माधवाचार्य तथा विष्णु स्वामी आदि ने वैष्णव धर्म की विजय-वैजयन्ती चारों ओर फैलाई।[१५]

भक्ति-आन्दोलन के तीन उत्थान

पंडित बलदेव उपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भागवत सम्प्रदाय' में भक्ति आन्दोलन को तीन उत्थानों में इस प्रकार विभक्त किया है --

१) प्रथम उत्थान - (१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० तक) : इसमें उन्होंने सात्वत, पांचरात्र एवं भागवत भक्ति का उल्लेख किया है।

२) द्वितीय उत्थान (७०० ई० से १४०० ई० तक) : इस काल में उपाध्याय जी ने

१५-मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और परम्परा, पृ० ५१-५३

बाइसवार भक्तों एवं आचार्यों की शास्त्रीय भक्ति का उल्लेख किया है ।

(३) तृतीय उत्थान (१४०० ई० से १६०० ई०) : इसका प्रारम्भ वे उत्तरभारत में १५वीं शती के आरम्भ से मानते हैं जो विशुद्ध जन आन्दोलन था, क्योंकि यह केवल शास्त्रचिन्तक विद्वानों को ही स्पर्श नहीं करता प्रत्युत जनता को पूर्ण रूप से आन्दोलित करता है । इस युग की दो शाखाएं मुख्य हैं --राम शाखा तथा कृष्ण-शाखा । प्रथम शाखा के उदय का स्थान काशी है जहां स्वामी रामानन्द जी इसके प्रवर्तन का विराट कार्य सम्पन्न कर भारतीय समाज में एक महती धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं । वे भक्ति का द्वार प्रत्येक जाति के व्यक्ति के लिए भी खोल देते हैं और मुसलमानों के भीषण अत्याचारों से कराहने वाली भारतीय जनता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त कर देते हैं । उन्हीं से निर्गुण औरसगुण भक्ति की धाराएं प्रवाहित होती हैं जिसमें प्रथम के सबल प्रचारक कबीर और द्वितीय के समर्थ प्रतिनिधि तुलसीदास हैं ।

कृष्ण शाखा का उद्गम स्थल श्रीकृष्ण की लीलास्थली वृन्दावन है । यहां चार सम्प्रदाय क्रमशः- निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य और राधावल्लभीय -- उत्पन्न हुए । ये समस्त सम्प्रदाय भागवत् की देन हैं । इसीलिए ये भागवत् को प्रस्थानत्रयी के समान या उससे भी बढ़ कर मानते हैं। कृष्णशाखा के कवियों में हिन्दी के अष्टछाप के कवि विशेष प्रसिद्ध हैं । ये आचार्य वल्लभ की अनुकम्पा तथा प्रसाद के परिणत फल कहे जाते हैं । आनन्दघन, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि रसिक कवियों की कल्पना को अग्रसर करने में निम्बार्क सम्प्रदाय का विशेष हाथ है । इसमें मथुरा की ब्रज भाषा समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में निबद्ध करने वाली राष्ट्रभाषा थी । चैतन्य-मत के मैथिल पदकारों ने इसी भाषा में अपने अमर काव्यों की रचना करके बांला साहित्य के गौरव को बढ़ाया है । असमी,मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम तथा तमिल भाषाओं में वैष्णव-काव्यों की रचना की प्रेरणा इसी जन-आन्दोलन से प्राप्त हुई । इस प्रकार वैष्णव-भक्ति के सार्वत्रिक विकास के लिए १५वीं शती भारत के धार्मिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी जिसने उत्तर तथा दक्षिण भारत में सर्वत्र वैष्णव-भक्ति की धारा प्रवाहित कर उसे एकता के सूत्र में बांधने का प्रशंसनीय प्रयास किया ।

सगुण और निर्गुणोपासना

उपनिषदों से ले कर भागवत् तथा वैष्णव भक्ति के सन्दर्भ में सगुण या साकारोपासना तथा निर्गुण या निराकारोपासना का जो रूप दिखाई पड़ता है, उसे हिन्दी काव्य तक की भक्ति यात्रा करते-करते स्पष्ट अभिधान प्राप्त हो गये । तुलसी दास, सूरदास तथा उनकी परम्परा का अनुसरण कर भक्ति काव्य की रचना करने वाले सन्त कवियों को सगुण या साकार की उपासना करने वाला सगुणोपासक कहा गया ।

तुलसी ने अपने आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम राम को विष्णु का अवतार माना । तुलसी ने राम की उपासना उनके अनेक रूपों में की । जन्म की बधाई, राम लला नहछू से ले कर विनयपत्रिका तक तुलसी की भक्ति का महासागर राम की भक्ति के निर्मल जल से आपूरित है । रामचरितमानस उनकी भक्तिस्नात प्रज्ञा से प्रसूत ऐसा महाकाव्य है जिसने भारतीय जनमानस को व्यापक रूप से आप्यायित किया है ।

तुलसी ने अपनी पूर्ववर्ती भक्ति परम्पराओं से, सांस्कृतिक इतिहास से क्या-कितना ग्रहण कर अपने कृतित्व में उसे समाहित किया, यह एक अन्य बात है, जिस पर यहां विवेचन अभीष्ट नहीं है । इतना निर्विवाद रूप से माना जाता है कि तुलसीदास सगुणोपासक सन्त हैं । सगुणोपासना के सभी तत्व उनके काव्य में परिव्याप्त हैं । दास्यभाव और शरणागति के जो चित्र तुलसीदास ने प्रस्तुत किये, वे अद्भुत हैं ।

हिन्दी कवियों में सूरदास सगुणोपासकोंमें सुधन्य स्थान रखते हैं । श्रीमद्-भागवत् के कृष्ण से ले कर सूरदास तक कृष्ण भक्ति की जो धारा प्रवाहित होती रही, वह सूर के पास पहुंच कर भक्ति के समुद्र में परिणत हो गयी । इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि श्रीमद्भागवत् में भक्ति की कोई कोताई या कमी है । काव्य-यात्रा की दृष्टि से विचार करने पर सूरदास का काव्य सन्दर्भ हिन्दी भक्ति काव्य में अपने परम प्रसर रूप में दिखाई देता है । कृष्ण की बाललीलाओं का जैसा हृदयग्राही वर्णन सूरदास के पदों में प्राप्त होता है, वैसा हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है ।

निर्गुणोपासना में कबीर का नाम पुरोन्य है। कबीर ने साकार उपासना पर तीव्र प्रहार किये हैं। वे कहते हैं -- पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
घर की चाकी कोई न पूजे पीस खाय संसार।।

दक्षिण से जिस भक्ति को रामानन्द उत्तर भारत में लाये उसे कबीर जैसे समर्थ शिष्य ने सप्तदीप नवखण्ड में प्रकट कर दिया।

कबीरदास ने जिस निर्गुण ब्रह्म की उपासना की बात कही, उस पर उपनिषदों, सिद्धों, सहजयादियों और इस्लामिक एकेश्वरवादियों का प्रभाव माना जाता है। क्षितिमोहन सेन की दृष्टि में कबीर ने अपनी आध्यात्मिक दुविधा और विश्वग्रासी आकांक्षा को तृप्त करने के लिए ही ऐसा किया है।

निर्गुण और सगुण भक्ति : जैन दृष्टि

जैन परम्परा में निर्गुण और सगुण भक्ति धारा की तरह कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती और न इस आधार पर रचनाकारों का निर्गुणोपासक और सगुणोपासक के रूप में विभाजन ही किया जा सकता है। परमात्म तत्व के अन्तर्गत `सिद्ध` और `अर्हन्त` या `तीर्थंकर` के स्वरूप की अवधारणा का जो वर्णन किया गया है उसे देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि `सिद्ध` की उपासना में निर्गुणोपासना तथा अर्हन्त या तीर्थंकर की उपासना में सगुणोपासना के लिए आधार विद्यमान है। `सिद्ध` शरीर रहित, विशुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं तथा अर्हन्त चार घातिया कर्मों को नाश करने के बाद भी शरीर युक्त हैं। उनके शेष चार कर्मों का नाश होने पर वे भी सिद्ध हो जाते हैं। अर्हन्त सशरीर होने के कारण प्राणियों के कल्याण के लिए उपदेश देते हैं। यही उनका वैशिष्ट्य है। तत्वतः अन्य कोई अन्तर नहीं है।

जैन परम्परा में सिद्ध और अर्हन्त या तीर्थंकरों की भक्ति को समान महत्व प्राप्त है। यही कारण है कि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी में समान रूप से दोनों की भक्ति-स्तुति की गयी है। हिन्दी के जैन कवियों के विनय भाव वाले पदों में इसके स्पष्ट दर्शन होते हैं।

जैन परम्परा में `सिद्ध` के लिए `निष्कल` और अर्हन्त के लिए `सकल` परमात्मा शब्दों का भी प्रयोग प्राप्त है, किन्तु भक्ति की दृष्टि से इनका विभाजन नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि `सिद्ध` के स्वरूप की अवधारणा से जैन परम्परा में अध्यात्म तथा रहस्यवादी विचारधारा को पल्लवित-पुष्पित होने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। कुन्दकुन्द ने अपने प्राकृत ग्रन्थों में जिस अध्यात्मवादी विचारधारा को प्रवाहित किया उसे संस्कृत में अमृतचन्द्र, गुणभद्र आदि आचार्यों ने तथा अपभ्रंश में जोइन्दु, रामसिंह आदि ने आगे बढ़ाया। हिन्दी में भट्टारक, शुभचन्द्र, रूपचन्द्र, बनारसीदास, द्यानतराय, दौलतराम, भूधरदास, भागचन्द्र आदि ने ऐसे अनेक पदों की रचना की जिन्हें समन्वित रूप में `आध्यात्मिक पद` अभिधान दिया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा

भारतीय भक्ति और साधना की परम्पराओं के सन्दर्भ में बौद्ध धर्म की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध के चिन्तन, आचार संहिता तथा जनशक्ति के महत्वांकन ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। कालान्तर में आक्रान्ता और सर्वग्रासी शक्तियों ने भारत में बौद्ध क धर्म को तो सर्वात्मना ग्रस लिया, किन्तु उसके सांस्कृतिक अवदान को मिटाना सम्भव नहीं हुआ। इस कारण उसे अन्य परम्पराओं ने अपने में अन्तर्भुक्त कर लिया। भारतीय सांस्कृतिक इतिहासवेत्ताओं का अभिमत है कि मध्ययुगीन भक्ति साधना का स्वरूप बौद्ध धर्म की भस्म पर निर्मित हुआ। सातवीं और आठवीं शताब्दी में पौराणिक धर्म का पुनर्गठन हो रहा था और उस समय बौद्ध विचारधारा के साथ शैव, सात्वत, पांचरात्र तथा भागवत मत चल रहे थे। बौद्ध महायान के विरति और विवेक सम्बन्धी तत्वोंको शैवों ने तथा भक्ति सम्बन्धी तत्व को वैष्णवों ने ग्रहण कर लिया। बौद्ध धर्म भारत में अपनी विरासत को सन्त साधना के रूप में छोड़ गया। पता भी नहीं चला कि इतना विराट् बौद्ध संघ कहां अदृश्य हो गया। वस्तुत: वह मध्ययुगीन भक्ति साधना में अन्तर्निहित हो गया। बुद्ध विष्णु के रूप में समाविष्ट हो गये। बौद्धों का सहजयान वैष्णवों के सहजिया सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया। मध्यकालीन सन्त साधना बौद्ध-साधना की ठीक उत्तराधिकारिणी ठहरती है।[१६]

बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् गौतम बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर बौद्ध धर्म दो दलों में विभक्त हो गया -- हीनयान और महायान । हीनयान को हम व्यष्टि-परक साधना का मार्ग कह सकते हैं जब कि महायान समष्टिपरक है । यह केवल अपनी ही मुक्ति नहीं चाहता अपितु सारी मानवता की मुक्ति का आकांक्षी है । महायान सम्प्रदाय वाले इसीलिए हीनयान (संकरे रथवालों) की हंसी उड़ाते हुए कहा करते हैं कि जो केवल अपनी मुक्ति चाहता है वह स्वार्थी और संकीर्ण विचार का है । ये अपनी संकरी गाड़ी में केवल सन्यासियों और विरक्तों को आश्रय दे सकते हैं । 'महायान अर्थात बड़ी गाड़ी के आरोहियों का दावा है कि वे नीचे-ऊंचे, छोटे-बड़े सबको अपनी विशाल गाड़ी में बैठा कर निर्वाण तक पहुंचा सकते हैं[१७]। इस प्रकार महायान, सन्यासियों और विरक्तों के सीमित घेरे से निकल कर सर्वसाधारण गृहस्थों का -- सारी जनता का धर्म बन गया । 'हीनयान' के अनुयायी जहां अधिकतर नैतिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ही हो पाते थे वहां 'महायान' में सभी वर्ग विचार एवं मत के लोगों का प्रवेश होने लगा । महायान के विकास की मूल प्रेरणा बौद्ध धर्म को लोक-जीवन के निकट पहुंचाने और ऐसे पथ का विकास करने की थी जिसमें केवल सम्बुद्ध व्यक्ति ही नहीं वरन् समस्त लोक का कल्याण हो सके[१८] ।

इस प्रकार 'बौद्ध धर्म का चिन्तन-पक्ष' हीनयान में रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में । कालान्तर में जब महायान द्वारा बुद्ध देवत्व प्राप्त कर बोधिसत्व बन गये तब उनके उपदेशों को भी असाधारण महत्व प्राप्त हो गया और उनके प्रति जनता की अमिट श्रद्धा बढ़ चली । किन्तु उनका आकार वृहद् होने के कारण दैनिक पाठ के लिए असुविधा होने लगी । अतः उनके आधार पर छोटे-छोटे सूत्रों की रचना की जाने लगी और यही सूत्र अन्धश्रद्धालु जनता के लिए मन्त्र बन गये । इन मन्त्रों का अर्थ रहित होना ही श्रेयस्कर समझा गया । मन्त्रों को महत्व देने वाला महायान का

१६- भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३५५ ।
१७- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ७
१८- डा० धर्मवीर भारती , सिद्ध साहित्य, पृ० १०१

उपसम्प्रदाय आगे चल कर `मन्त्रयान` के नाम से विख्यात हुआ। मन्त्रों द्वारा सिद्धि पाने का मार्ग बतलाने वाले साधक सिद्ध कहलाये। महायान की सरल साधना मन्त्रयान में परिवर्तित हो कर ४०० से ७०० ई० के आसपास अपना व्यापक प्रचार करती रही। धर्म ज्यों-ज्यों योग और मन्त्र में सिमटता गया जनता त्यों-त्यों रूढ़ि और अन्धविश्वासों में और भी ग्रसित होती गयी और जिस धर्म ने हिन्दुओं को पुरोहितवाद के चक्कर से छुड़ाने का बीड़ा उठाया था खुद वही अब जनता को भरमाने के लिए योगाचार और मन्त्रों का सहारा लेने लगा।[१९] इन तन्त्र-मन्त्रों का व्यापक प्रचार होने से मन्त्रयानी साधकों को जनता से पर्याप्त श्रद्धा एवं श्री मिली। अब उनमें विलासिता आ गयी। अब मन्त्रयानी साधक मन्त्रोंतक ही अपनी साधना को सीमित न रख कर मुद्रा एवं मैथुन की भोगपरक साधना में प्रवृत्त हुए। भैरवीचक्र की स्थापना करके इन साधकों ने सदाचार को तिलांजलि दे दी और इस प्रकार मन्त्रयान वज्रयान में बदल गया।

इस वज्रयान का विकास ई० ८०० से ११७५ ई० तक होता रहा और तत्पश्चात् धीरे धीरे इसका पतन हुआ। इन वज्रयानी साधकों में ही प्रसिद्ध ८४ सिद्धों की गणना की जाती है। वज्रयान का आराध्य देवता वज्रसत्व है। यह वज्रसत्व एक प्रकार से उपनिषदोंके ब्रह्म के समान शक्तिशाली है। यही सम्पूर्ण प्राणियों में `आत्मा` के रूप में निवास करता है। यही जागतिक प्रपंच के पीछे छिपी शक्ति है जिसे `बोधिचित्त` के रूप में भी पुकारा गया है। मुक्ति- मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक मानी जाने लगी। मुक्ति के साथ पुरुष और स्त्री के लौकिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए सिद्धों ने कहा, पुरुष और स्त्री पृथक-पृथक रहने पर अपूर्ण हैं। इसी आन्तरिक पूर्णता को पाने के लिए दोनों तत्व व्यग्र रहते हैं। बाह्य लौकिक रति दो विरोधी तत्वों को एकता की ओर ले जाती है। यह बाह्य रति आध्यात्मिक रति की सहायिका है। स्त्री और पुरुष तत्व दोनों के पारस्परिक मिलन की अन्तिम धारा को `समरस` या `महासुख` के नाम से पुकारा जाता है। `समरस` प्राप्त करना वज्रयानियों का अन्तिम लक्ष्य है। हीनयान से महायान, महायान से मन्त्रयान,

---

१९- श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १९०

मन्त्रयान से वज्रयान और वज्रयान से सहजयान का क्रमिक विकास ही यह सूचित करता है कि तपस्या और संयम के अस्वाभाविक जीवन से ऊब कर लोग धीरे-धीरे भोग में ही चरमसत्य के दर्शन करने लगेथे। वज्रयानियों की कमल कुलिश की साधना में स्त्रीन्द्रिय पद्म तथा पुंसेन्द्रिय वज्र का प्रतीक मानी जाती थी और इस प्रकार वे मैथुनी चक्र में में प्रवृत्त हो जाया करते थे। इन वज्रयानियों में भी कुछ ऐसे साधक थे जो उपर्युक्त प्रतीकों का अर्थ भोगपरक न ले कर आध्यात्मिकता से जोड़ते थे और निर्लिप्त भाव से अपनी साधना में लगे रहते थे। अपनी इस साधना को ये 'सहज' की संज्ञा देते थे। उनका कहना था कि हमारी साधना इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो सके, क्योंकि चित्त-रत्न के क्षुब्ध हो जाने पर किसी भी प्रकार की सिद्धि सर्वथा दुर्लभ है। सहज शब्द के दो अर्थ हैं -- 'सहज' अन्तिम सत्य को कहते हैं अत: सहजयान में परमसत्य का उपदेश किया गया। सहज का द्वितीय अर्थ स्वाभाविक भी होता है। सह-गमन या कामभावना जीवन की स्वाभाविक गति है, अत: सहज-मार्ग वह मार्ग है जो कामवासनाओं को यौगिक क्रिया में बदल कर सत्य प्राप्ति का सरल स्वाभाविक पथ बतलाता है। उन्हें दमित करने की शिक्षा नहीं देता। सहजयानियों ने अपने मार्ग को राग मार्ग कहा है। प्रसिद्ध सहजयानी सरहपाद का कहना है कि 'हे योगी! इस सरल मार्ग को छोड़ कर वक्र और अस्वाभाविक मार्ग की ओर मत जाओ। बोधि तुम्हारे भीतर स्थित है, लंका जाने की आवश्यकता नहीं। हाथ कंगन को आरसी क्या। स्वयं अपनी अनुभूति में डूब जाओ। यदि एक बार 'बोधि' प्राप्त हो जाये तो मन्त्र, तपस्या, यज्ञ आदि सारी क्रियाएं व्यर्थ हैं।इस प्रकार सहजयानी मार्ग वह मार्ग है जिसमें कृच्छता न हो, जिसमें संसार को छोड़ कर वन में जा कर हठयोग की क्रियाओं द्वारा शरीर को सुखाना न पड़े, जो मार्ग गृहस्थ का मार्ग हो, जिस मार्ग पर चल कर मनुष्य अपना दैनिक कार्य करता हुआ भी आध्यात्मिक प्रगति कर सके।[२०]

सहजयान के साधक वज्रयान की भोगपरक बाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करने की चेष्टा करते हैं और अपने पूर्ववर्ती यानों

२०- सरहपाद : दोहा कोष, पृ० १८

के मूल पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करते हुए भी उसकी अध्यात्म परक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जैसे सहजयान में पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक वज्र अब बोधिचित् का सारस्वरूप `प्रज्ञा` के रूप में ग्रहण किया गया । सरहपाद ने वज्रयानियों की कमल-कुलिश साधना को नितान्त सांसारिक एवं गर्हित माना और उसे केवल `सुरत विलास` कहा जिससे सांसारिक प्राणी अपनी तुच्छ वासना की तृप्ति करता है । सहजयान बतलाता है कि सभी साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य शुद्धि है जिसके द्वारा हमें सहजावस्था की प्राप्ति होती है ।

सहजयान में काया-साधना को विशेष महत्व प्रदान किया गया । शरीर को सत्य-प्राप्ति का साधन माना गया । सरहपाद ने कई स्थानों में कहा है कि इसी देह में बुद्ध का वास है । यही देह सुरसरि, यमुना, गंगासागर, प्रयाग और वाराणसी है । इसी में सूर्य, चन्द्र एवं समस्त धर्मक्षेत्रों का वास है । मूर्ख, तू कहां-कहां व्यर्थ भटकता है । शरीर के समान सुख प्रदान करने वाला तीर्थ अन्यत्र कहीं नहीं है । इड़ा और पिंगला को प्रज्ञा तथा उपाय कहा गया है और सुषुम्ना या अवधूति का सहज मार्ग है । प्रज्ञा और उपाय अर्थात् इड़ा और पिंगला के मेल से बोधिचित् की उत्पत्ति होती है । इसकी दो अवस्थाएं हैं -- १- संवृत, २- विवृत । संवृत अवस्था सांसारिक स्थूल काम-भोग की परिचायक है और विवृत पारमार्थिक सत्य की प्रतीक । अतः यह आवश्यक है कि बोधिचित् को जगा कर संवृत सत्य की उपलब्धि की जाय और तत्पश्चात् उसे पारमार्थिक सत्य में परिवर्तित कर दिया जाए । अतः सहजयान में काम भोग की साधना उस परम सत्य को पाने की साधना-मात्र थी ।

सहजयान को मध्यम मार्ग भी कहा गया है, क्योंकि यह भाव और अभाव दोनों स्थितियों के मध्य की वस्तु है । सरहपाद ने अपने सहजयान की विशेषता बतलाते हुए कहा है कि जब नाद् बिन्दु अथवा चन्द्र और सूर्य मण्डलों का अस्तित्व नहीं है और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है तब फिर सरल मार्ग का परित्याग कर बंक मार्ग ग्रहण करना कहां तक उचित कहा जा सकता है । सहज मार्ग ग्रहण करने वाले के लिए ऊंचा-नीचा, बायां-दाहिना सभी एक भाव हो जाते हैं । इस मार्ग की

प्रक्रिया चाहे सीधे चित्त-शुद्धि के ढंग से की जाय अथवा बोधिचित्त एवं नैरात्मा के पारस्परिक मिलन या समरस के रूप में, दोनों ही दशाओं में वह स्वयं वेदन अथवा एक प्रकार की स्वानुभूति ही कही जा सकती है।"[२१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने लोक-मंगल के लिए लोक-संग्रह का जो सिंह द्वार निर्मित किया था उसे युगों-युगों की दीर्घावधि में अनेक प्रकार के झंझावातों का सामना करना पड़ा। लोक संग्रह या समष्टि के कल्याण के लिए, व्यष्टि और समष्टि के निर्वाण की प्राप्ति के लिए बुद्ध की करुणा ने साधना के विविध रूप ग्रहण करके संसार के अनेक देशों में प्रसारित हो कर सामाजिक जीवन के विविध ओंकोंको किस रूप में प्रभावित किया है, उसका अध्ययन किया जाना चाहिए।

जैन और बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक सांस्कृतिक इतिहास को देखने पर उनमें धार्मिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं, साधना के नियमोपनियमों और दार्शनिक चिन्तन में अनेक समानताएं लक्षित होती हैं, किन्तु दोनोंमें कुछ ऐसे मौलिक अन्तर हैं जिनके कारण उनका स्वतन्त्र विकास हुआ। इतना ही नहीं, उत्तरकाल में जिस तरह बौद्ध धर्म अपने जन्म स्थान से लुप्त हुआ वैसी स्थिति का सामना जैन धर्म को कभी नहीं करना पड़ा। इसके प्रमुख कारणों में बौद्ध धर्म में आये हुए विकार उसके लुप्त होने में तथा जैन धर्म में आचारगत दृढ़ता और सांस्कृतिक मूल्यों के संग्रह की बात भी आती है।

तान्त्रिक युग की साधना पद्धतियों के संमोहक आकर्षणों के बावजूद जैनों की साधना मदिरा और मांस की दुर्गन्ध से आक्रान्त नहीं हो सकी। काम की उद्दाम साधनाएं भी उसे अभिभूत नहीं कर सकीं। इसके विपरीत विभिन्न संस्कृतियों में जो सात्विक आचार था, उसे जैन मनीषी संग्रह करते गये। ऐसा करने में अनेक स्थलों पर आडम्बरोंसे भी वे अछूते नहीं रह पाये, फिर भी उन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित बचा लिया। भक्ति और साधना के सन्दर्भ में जैन परम्परा की इस संग्रहशीलता और उदात्तता का अनुशीलन भारत के सांस्कृतिक इतिहासके लिए महत्वपूर्ण है।

सूफी-सन्त

सूफी सन्तोंने भारतीय समाज और संस्कृति को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया । यद्यपि सूफी मूलत: भारतीय नहीं थे, किन्तु भारत आने के बाद अपनी भक्ति और साधना पद्धति के कारण उन्होंने भारत के जनमानस पर व्यापक रूप से प्रभाव डाला ।

सूफी मत का भारत में प्रवेश ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२ वीं शती) के समय से माना जाता है । इस देश में आने के पूर्व ही यह मत पश्चिमी देशोंमें पर्याप्त विकसित हो चुका था ।

सूफी मुसलमान होते हुए भी उनमें इस्लामी कट्टरता की तीव्रता नहीं थी, अत: वे सरलता से हिन्दू समाज की बहुत सी बातों को अपना कर बड़ी प्रेम भावना से उन्हें अपनी बातें बता देते थे । बाह्य एवं आन्तरिक आचरण में सूफ (ऊन) की सी निर्मलता और पवित्रता होने के कारण सूफी कहलाये । ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण जनित प्रेम साधना पारस्परिक संवेदनशीलता और विश्वबन्धुत्व की भावना पर ये विशेष बल देते थे ।[२२]

सूफीमत का उद्भव क्रिया-प्रधान, रूढ़िवादी इस्लाम की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था । इस्लाम धर्म का मूल मन्त्र है --ला इलाह इल्लिलाह मुहम्मदुर्रसु-लिल्लाह अर्थात् अल्लाह के सिवा और कोई पूज्य नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल (मार्गदर्शक) हैं । अत: पक्का मुसलमान बनने के लिए अल्लाह और उसके रसूल पर पूर्ण विश्वास लाना नितान्त आवश्यक है ।

इस्लाम ने मूल रूप में जिस ईश्वर की कल्पना की थी वह, शक्तिशाली और निरंकुश प्रभु की कल्पना थी । अल्लाह शब्द का अर्थ ही शक्तिशाली पुरुष होता है । इस्लाम ने ईश्वर के गुणों मेंप्रेम को कम, किन्तु श्रद्धा और भय को अधिक स्थान दिया है । सनातनी इस्लाम के अनुसार परमात्मा एक है, वह बहुत समीप से

२२- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य, पृ० ४७

सब कुछ देख रहा है। उसी का पूर्व और पश्चिम है। हम जिस ओर भी अपनी दृष्टि घुमाते हैं, उधर हमें अल्लाह का चेहरा दिखाई पड़ता है। वह सर्वशक्तिमान् है। अनन्त इच्छाशक्तिवाला है। उसके सिवा अन्य कोई पूजा के काबिल नहीं। वह महान् और सर्वोपरि है।[२३]

इस प्रकार कुरानशरीफ का इस्लामी चिन्तन एकेश्वरवादी था। इसके विपरीत सूफीमत की साधना जीव और ईश्वर की तात्विक एकता और उसकी सर्व व्यापकता पर विश्वास करती थी। अखिल सृष्टि के कण-कण में उसके सौन्दर्य की झलक देखती थी। नियम पालन और क्रिया के स्थान पर उसमें आन्तरिक अनुराग, आत्म समर्पण की उत्कट आकांक्षा एवं परमात्म-मिलन की तीव्र विरहाकुलता थी। इस्लामी साधना शरीअत, तरीकत तथा हकीकत से सम्बन्धित थी। सूफियों ने इनके अतिरिक्त मारिफत अर्थात् ईश्वर से पूर्णतः मिल कर अल-अलहक की स्थिति में पहुंच जाने पर भी जोर दिया। सूफियों ने इस्लाम के अतिरिक्त अन्य जातियों के दर्शन तथा अध्यात्म से सहायता ले धीरे-धीरे एक नवीन मत का सृजन किया।[२४]

सूफियों की साधना वस्तुतः इश्क (प्रेम) की साधना है। मारिफत के भावावेगमय रूप का ही नाम प्रेम है। सूफियों का यह प्रेम प्रच्छन्न के प्रति है जो बहुत कुछ व्यक्तिगत रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित है। ईश्वर को प्राप्त करने के जितने साधन बताये गये हैं, उनमें प्रेम का स्थान सर्वोच्च है। अबू तालिब का कथन है कि प्रेम से परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन होता है और उसके स्वरूप का परिचय मिलता है। सूफी-मत की साधना पद्धति प्रेम पर ही आश्रित है। चित की रति रूप रागात्मिका वृत्ति ही प्रेम का रूप धारण करती है। समस्त विश्व उसी प्रेम का परिणाम है। यह दृश्यमान जगत ऋत् के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली परम प्रभु की प्रतिच्छवि है। सृष्टि के कण-कण में उसकी रूप-श्री बिखरी हुई है, इसी सौन्दर्य विभूति में सूफी स्वयं को न्योछावर कर देता है। वह परमात्मा के साथ रागात्मक

२३- बशीर अहमद - तर्जुमा कुरान शरीफ, पहला पारा सूरे बकर, १२४

२४- चन्द्रकली पाण्डेय - तसव्वुफ या सूफीमत, पृ० ६

सम्बन्ध स्थापित करने तथा उससे `एकमेक` होने के लिए निरन्तर तीव्र भाव से उत्कंठित रहता है[२५]।

सूफी परमात्मा को प्रियतम कह कर पुकारते हैं और उसके इश्क (प्रेम) में पागल बने घूमते रहते हैं। जब प्रियतम के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी नहीं दिखाई देता और वे अपने माशूक (प्रियतम) में सर्वस्व अहम्भाव समर्पित कर तल्लीन हो जाते हैं तब उन्हें शाश्वत `बक़ा` का आनन्द मिल जाता है। सूफी आध्यात्मिक प्रेम की उपलब्धि के लिए सांसारिक प्रेम को सोपान के रूप में ग्रहण करते हैं। वे इन्द्रियों द्वारा गृहीत सौन्दर्य को उसी अनन्त सौन्दर्यशाली की छटा मानते हैं तथा यत्र-तत्र जो कुछ भी देखते हैं उसमें उनको अपने प्रियतम का सौन्दर्य दिखाई देता है। सूफी साधक स्वयं को पूर्णतया समर्पण कर देने में ही अपनी चरम सार्थकता मानते हैं। सूफियों का दृढ़ विश्वास है कि प्रेम ही सब रसों का मूल है। इस प्रकार प्रेम के आलोक में सूफी साधक परमात्मा के वैभव एवं ऐश्वर्य को देखता हुआ मारिफ (ज्ञान) की प्राप्ति करता है। ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् प्रेम की समाप्ति नहीं हो जाती अपितु दोनों अपने विशुद्ध रूप में बने रहते हैं। अलसर्राज का कथन है कि परमात्मा से सच्चा वही प्रेम कर सकता है जिसे विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाय और जो सच्चा उससे प्रेम करता है, वही वस्तुतः उसका ज्ञान प्राप्त कर चुका है[२६]।

सूफियों का चरम लक्ष्य `अलहक़` के साथ पुनः `एकत्व` प्राप्त करना है। उनका विश्वास है कि वज्द (भावावेशमयी स्थिति) ही एक ऐसी स्थिति है जिसमें आत्मा परमात्मा में मिल कर `एकत्व` प्राप्त कर सकती है। यह स्थिति अभिव्यक्ति से परे है। साधक बहुत आयास के बाद इस स्थिति को प्राप्त करता है। इस भावावेशमयी स्थिति के द्वारा साधक परम साध्य का साक्षात्कार कर सकने में समर्थ हो जाता है। भावोल्लास (वज्द) के पश्चात् प्राप्त होने वाली `वुजूद` की स्थिति (अर्थात् परमात्मा की सत्ता में स्थिति) को सूफी परमप्रभु की कृपापूर्ण देन मानते हैं। साधक परमात्मा के नाम-

---

२५- डा० केशनी प्रसाद चौरसिया : मध्यकालीन हिन्दीसन्त--विचार और साधना।
२६- श्री चन्द्रबली पाण्डेय - तसव्वुफ और सूफीमत, पृ० ११६

स्मरण, ध्यान एवं उपासना में एक अनुपम सुख एवं उत्कट प्रेम का अनुभव करता है, उस के अन्तर का समस्त परिताप अविरल अश्रुपात से निकल कर उसे हलका बना देता है। कभी वह नाम रट के साथ किसी अदृश्य छवि-श्री को खटक देखता हुआ मुस्कुराने लगता है और कभी जड़ीभूत हो जाता है। उन्माद की इस अवस्था में पहुंच कर समस्त सांसारिक व्यापारों एवं विषयों से वह विरक्त हो जाता है एवं परमात्मा की सत्ता में इस भाव से घुल मिल जाता है कि उसका अपने प्रियतम से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।[२७]

सूफी साधक समस्त आसक्तियों एवं द्वन्द्वों से अतीत हो कर परमात्मा में अपने को लीन कर देता है एवं उसकी अहं की चेतना का पूर्ण तिरोभाव हो जाता है। उस समय वह हर्ष विषाद से परे हो जाता है। उसकी सारी वासनाओं और इच्छाओं का अवसान हो जाता है तथा वह अपने प्रियतम में रमण करता हुआ सब प्रकार से निश्चिन्त हो जाता है। `फना` उसकी मंजिले-मक्सुद नहीं है। इसके बाद भी एक स्थिति `बक़ा` की है जिसमें पूर्ण शान्त भाव से उसकी आत्मा परमात्मा में निवास करने लगती है। इस अन्तिम स्थिति तक पहुंचने के लिए साधक को चार मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। १- नासूत (जागृत अवस्था, नर लोक), २- मलकूत (स्वप्न, देवलोक), ३- जबरूत (सुषुप्ति, ऐश्वर्य लोक), ४-लाहूत (तुरीय : माधुर्य लोक)। कुछ सूफियों ने एक अन्य लोक हाहूत (तुरीयातीत, सत्यलोक) की भी कल्पना की है। `मोमिन शरीअत का पालन कर नासूत में विहार करता है, मुरीद तरीकत का सेवन कर मलकूत में विचरता है, सालिक मारिफत का स्वागत कर जबरूत में विराम और आरिफ हकीकत का चिन्तन कर लाहूत में तल्लीन होता है। यही सूफियों की पराकाष्ठा और तसव्वुफ की परागति है।[२८]

निकलसन के मतानुसार सूफियों की कोई एक साधना पद्धति नहीं है। वे विभिन्न पद्धतियों से ईश्वर के समीप पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। सालिक की यात्रा

२७-श्री रामपूजन तिवारी - सूफी मत : साधना और साहित्य, पृ० ६३

२८- श्री चन्द्रबली पाण्डेय - तसव्वुफ या सूफीमत, पृ० ६४

करने से पूर्व नफ्श चित्तवृत्ति को मार कर कल्ब, रूह (आत्मा) का विकास करना चाहिए। पुस्तकीय ज्ञान की यहाँ उपेक्षा की गयी है। मारिफत के भावावेगमय रूप का नाम ही प्रेम है जिसे पाने के लिए प्रत्येक सूफी व्यग्र रहता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रत्येक साधक के लिए भावातिरेकता को ग्रहण करना पड़ता है तथा हृदय को शुद्ध करने के लिये उसे सात मुकामात से गुज़रना पड़ता है। ये क्रमशः प्रायश्चित्त, अकिंचनता, सन्तोष, अपरिग्रह, ईश्वर विश्वास, धैर्य तथा निरोध हैं।[२९] सूफी साहित्य में आत्मा परमात्मा के प्रेम की व्यंजना आशिक और माशूक के रूप में की गयी है तथा विरह-मिलन की अनुभूतियाँ, प्रेम की तड़पन एवं छटपटाहट का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण सूफी-साहित्य की मधुर देन है। सूफियों की धारणा है कि जीवात्मा परमात्मा के वियोग में व्याकुल हो कर उसी की प्राप्ति के लिए निरन्तर सचेष्ट रहता है। सूफियों का यह प्रेम, पूर्ण निष्काम, भावयुक्त केवल प्रेम के लिए ही होता है। उसकी एक मात्र लालसा प्रिय के रूप सुधा-पान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होती। प्रेम के लिए ही प्रेम करना सूफी साधना का आदर्श है। इस दुर्लभ प्रेम की प्राप्ति भगवान् की कृपा पर ही निर्भर है। साधक चाहे जितनी चेष्टा करे, बिना भगवत्कृपा के प्रेम का पाना असम्भव है। सूफियों का प्रेमादर्श किसी प्रकार के पुरस्कार का मुहताज नहीं। उनका दृढ़ विश्वास है कि जो भगवान् से प्रेम करते हैं, उनसे भगवान् भी प्रेम करता है। सीमित और मानवीय प्रेम का प्रसार बढ़ते-बढ़ते अपनी विराटता में ब्रह्माण्ड को आवृत कर लेता है और तब साधक सर्वत्र ब्रह्म को व्याप्त जान कर उसकी और आत्मा की पारस्परिक प्रणय-लीला का दर्शन करने लगता है। इस प्रकार सूफियों के सौन्दर्य-बोध की सीमित परिधि का पर्यवसान अन्त में अनन्त सौन्दर्य की असीम भाव-भूमि तक हो जाता है।[३०]

सूफियों की इस प्रेम साधना का प्रभाव हिन्दी के सन्त कवियों पर स्पष्ट रूप से पड़ा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त

२९- निकलसन - मिस्टिक्स आव इस्लाम, पृ० ६९, ११२, ४५

३०-डा० केशनीप्रसाद -मध्यकालीन हिन्दी सन्त:विचार और साधना, पृ० ४४८-४९

का है,पर प्रेमतत्व बिलकुल सूफियों का है। इनमें दादू, दरिया साहब तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं।[३१]

भक्ति, अध्यात्म और रहस्यवाद

आत्म-तत्व का विवेचन भारतीय वाङ्मय में विभिन्न रूपों में किया गया मिलता है। विभिन्न स्तरोंपर इसे विभिन्न अभिधान दिये गये, जिन्हें सांस्कृतिक विनिमय में एक-दूसरी परम्पराओं, विचारधाराओं ने भी अभिगृहीत किया। अपनी धारा के अनुरूप परिभाषाओं को भी रूपान्तरित किया।

उपनिषदों में 'ब्रह्म' के स्वरूप का जो वर्णन है वही ब्रह्म अपभ्रंश के जोइन्दु का और हिन्दी के कबीर का नहीं है। उनकी अपनी व्याख्याएं हैं।

जैन धारा में अध्यात्म और रहस्यवाद का चिन्तन आत्मा और परमात्मा के स्वरूपगत सादृश्य पर विकसित हुआ है। आत्माओं के नानात्व को मानने पर भी स्वरूपगत सादृश्य के आधार पर उनमें एकता मानना तथा संसारी जीव के शरीर में स्थित आत्मा तथा 'सिद्ध' रूप को प्राप्त आत्मा में द्रव्य-दृष्टि से सादृश्य मानना जैन दृष्टि की मौलिक देन है। जैन दृष्टि से आत्म स्वरूप को जानकर उसी की आराधना करना, उसी में रमण करना सच्ची भक्ति है। इसीलिए भक्ति का प्रयोजन और उपलब्धि आत्मस्वरूप की प्राप्ति माना गया।

पिछले अध्यायों में किये गये विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों की परम्परा से उक्त सूत्रों को ग्रहण कर हिन्दी के जैन कवियों ने अपने पद-साहित्य में किस प्रकार इस चिन्तन को, सिद्धान्तों को स्पष्ट करने, समझाने और स्व-पर विवेक जागृत करने का प्रयत्न किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों से ले कर जोइन्दु के अपभ्रंश परमप्पपयासु और दौलतराम के हिन्दीपदों तक की इस विकास यात्रा पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक, औपनिषदिक तथा अन्य

३१- जायसी ग्रन्थावलि, भूमिका

धाराओं से जैन परम्परा की मौलिकता क्या है। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने जोइन्दु के परमप्पपयासु की प्रस्तावना में इस विषय पर विस्तार से विचार किया है।[३२]

उपनिषदों में ब्रह्म एक विश्वव्यापी तत्व माना गया है, समस्त जीवात्माएं उसी के अंश हैं। बहुत से स्थलों पर आत्मा और ब्रह्म शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। जैसे लोहे का एक टुकड़ा पृथ्वी के गर्भ में दब जाने के बाद पृथ्वी में ही मिल जाता है, उसी तरह प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्म में समा जाता है। अविद्या के प्रभाव से प्रत्येक आत्मा अपने को स्वतन्त्र समझता है, किन्तु वास्तवमें हम सब ब्रह्म के ही अंश हैं। प्रारम्भ में यह ब्रह्म एक शक्तिशाली ऋचा के रूप में माना जाता था, किन्तु बाद में यह उस महान् शक्ति का प्रतिनिधि बन गया, जो विश्व को उत्पन्न करती और नष्ट करती है। यद्यपि बार-बार ब्रह्म को निर्गुण कहा है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसे एक स्वतन्त्र अनन्त और सनातन तत्व के रूप में माना है, जिससे प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व प्राप्त करती है। इस तरह उपनिषदों में ब्रह्म ही आत्मा है।

ब्रह्म शब्द वैदिक है और उपनिषदोंमें ब्रह्म को एक और अद्वितीय लिखा है। जोइन्दु ने इस शब्द को वैदिक-साहित्य से लिया है, और अपने ग्रन्थ में उसका बार-बार प्रयोग किया है।

'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्' लिख कर स्वामी समन्तभद्र ने भी 'ब्रह्म' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उपनिषदों में परमात्मा की अपेक्षा ब्रह्म शब्द अधिक आया है

जैन धर्म के अनुसार परमात्मा कृतकृत्य हो जाता है। उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। वह विश्व को जानता और देखता है, क्योंकि जानना और देखना उसका स्वभाव है, किन्तु वह उनका सृष्टा नहीं है। उपनिषदोंका ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का उत्पादक और आश्रय है। यद्यपि उपनिषदों के ब्रह्म और जैनों के परमात्मा में बहुत सी

३२- डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, परमप्पपयासु, भूमिका।

समानतायें हैं, किन्तु उनके अर्थ में भेद है। उदाहरण के लिए, उपनिषदों में 'स्वयंभु' शब्द का 'स्वयं पैदा होने वाला' और 'स्वयं रहने वाला' है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार 'स्वयं परमात्मा होने वाला' ही है

परमात्मा और उपनिषदों के ब्रह्म में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी जोइन्दु बिलकुल उपनिषदों के स्वर में परमात्मा के एकत्व की चर्चा करते हैं, और परमात्मपद के अभिलाषियोंसे निवेदन करते हैं कि वे परमात्माओं में भेद-कल्पना न करें, क्योंकि उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु उपनिषदों का एकत्व वास्तविक है और जोइन्दु का केवल आपेक्षिक। किन्तु जब जोइन्दु आत्मा और परमात्मा के एकत्व की चर्चा करते हैं तो वे उसका पूर्णतया समर्थन करते हैं, क्योंकि जैन धर्म के अनुसार आत्मा परमात्मा है, कर्मबन्ध के कारण उसे परमात्मा न कह कर आत्मा कहते हैं। सम्पूर्ण आत्माओं की यह समानता जैन धर्म के प्राणिमात्र के प्रति मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसावाद के बिलकुल अनुरूप है, इस प्रसंग में सांख्योंकी तरह जैनों को भी सत्कार्यवादी कहा जा सकता है। उपनिषदोंका ब्रह्म सर्वथा एक और अद्वैत है, किन्तु जैनों के परमात्मा में यह बात नहीं है। जैन धर्म संसार को भेद दृष्टि से देखता है, और उसका आत्मा तप और ध्यान के मार्ग पर चल कर परमात्मा बन जाता है। किन्तु उपनिषद् संसार को एक ब्रह्म के रूप में ही देखते हैं।

जैन धर्म में आत्मा और पुद्गल या चेतन और जड़ दोनों वास्तविक तत्व हैं। आत्मायें अनन्त हैं और मुक्तावस्था में भी प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। किन्तु उपनिषदों में आत्मा के अतिरिक्त जो कि ब्रह्म का ही नामान्तर है, कुछ भी सत्य नहीं है। जैन धर्म में उपनिषदों की तरह आत्मा एक विश्वव्यापी तत्व का अंश नहीं है, किन्तु उसके अन्दर परमात्मत्व के बीज वर्तमान रहते हैं और जब वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है, तब वह परमात्मा बन जाता है।

उपनिषद् तथा गीता में बुरे और अच्छे कार्यों को कर्म कहा है, किन्तु जैन धर्म में यह एक प्रकार का सूक्ष्म पदार्थ (मैटर) है जो आत्मा की प्रत्येक मानसिक, वाचिक

और कार्मिक-क्रिया के साथ आत्मा से सम्बद्ध हो जाता है और उसे जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, क्योंकि ये एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं हैं, और इस तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। तथा संसार अनादि है, और अणित आत्माओं की रंगभूमि है। किन्तु वेदान्त में आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्मस्वरूप ही है।

आत्मा और ब्रह्म सिद्धान्त को मिला कर उपनिषद् एक स्वतन्त्र अद्वैतवाद की सृष्टि करते हैं। वास्तव में आत्मवाद और ब्रह्मवाद ये दोनों ही स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं और एक से दूसरे का विकास नहीं हो सकता। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार अणित आत्माएं संसार में भ्रमण कर रही हैं, जब कोई आत्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है तब वह परमात्मा बन जाता है। परमात्मा भी अणित हैं, किन्तु उनके गुणों में कोई अन्तर नहीं है, अतः वे एक प्रकार की एकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये परमात्मा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय में कोई भाग नहीं लेते। इसके विपरीत ब्रह्मवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है और उसी में लय हो जाती है, विभिन्न आत्माएं एक परब्रह्म के ही अंश हैं। जैन और सांख्य मुख्यतया आत्मवाद के सिद्धान्त को मानते हैं, जब कि वैदिक-धर्म ब्रह्मवाद को। किन्तु उपनिषद् इन दोनों सिद्धान्तों को मिला देते हैं और आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन करते हैं।

संसार और मोक्ष आत्मा की दो अवस्थाएं हैं, और दोनों एक दूसरे से बिलकुल विरुद्ध हैं। संसार जन्म और मृत्यु का प्रतिनिधि है, तो मोक्ष उनका विरोधी। संसार-दशा में आत्मा कर्मों के चंगुल में फंसा रहता है और नरक, पशु, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में घूमता फिरता है, किन्तु मोक्ष उससे विपरीत है, उसे पंचमगति भी कहते हैं। जब आत्मा चौदह गुणस्थानों में से हो कर समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है, तब उसे पंचमगति की प्राप्ति होती है। संसार-दशा में कर्म आत्मा की शक्ति को प्रकट नहीं होने देते। किन्तु मुक्तावस्था में जहां आत्मा परमात्मा बन जाता है, और अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य का धारक होता है, वे शक्तियां प्रकट हो जाती हैं।

व्यवहार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, येतीनों मिल कर मोक्ष के मार्ग हैं, इन्हें 'रत्नत्रय' भी कहते हैं, और निश्चय से रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि ये तीनों ही आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं।

आत्मा के उपर्युक्त वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध करने के लिए मिथ्या-दृष्टि का नष्ट होना प्रथम सोपान है। सद्दृष्टि प्राप्त होते ही व्यक्ति आलोचना, प्रत्याख्यान करके ध्यान और समाधि की ओर बढ़ता है। उस ध्यान की प्राप्ति के लिए जिसमें आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार करता है, मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। उस समय न तो इष्ट वस्तुओं के प्रति मन में राग ही होना चाहिए और न अनिष्ट के प्रति द्वेष, तथा मन, वचन और काय एकाग्र होने चाहिए और आत्मा आत्मा में लीन होना चाहिए। जैन मनीषियों ने ध्यान की इस स्थिति का विस्तार से विवेचन किया है। आध्यात्मिक विकास का जो विवरण प्राप्त होता है उससे पता चलता है कि साधक किस प्रकार क्रम-क्रम से कर्मबन्धन से मुक्त हो कर विशुद्धता की ओर तीव्रगति से अग्रसर होता है। जिस प्रकार अग्नि के ताप में सुवर्ण मैलरहित हो कर कंचन हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान की अग्नि में साधक का कर्ममल जलकर भस्म हो जाता है। जैन पारिभाषिक शब्दावलि में इसे चारित्र श्रेणी आरोहण कहा जाता है। क्रमिक विकास की इन अवस्थाओं को 'गुणस्थानों' के माध्यम से विवेचित किया गया है।

जैन परम्परा में तीर्थंकरों, आचार्यों, मुनियों तथा गृहस्थ साधकों की तपस्याओं-साधनाओं के जो विवरण मिलते हैं, उनके साहित्यिक साक्ष्य प्राकृत वाङ्मय से ले कर हिन्दी एवं साहित्य तक तथा व्यावहारिक साक्ष्य तीर्थंकर ऋषभदेव के जीवन से ले कर आज तक जैन साधना क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं। वातरशना मुनियों और व्रात्यों की साधना का संकेत प्रथम अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार आचार्यों ने आत्मा, परमात्मा तथा जड़ तत्व का विश्लेषण करते हुए आत्मा के परमात्मस्वरूप को विकसित करने पर बल दिया है और इसके लिए संसारी जीव को बार-बार सम्बोधित किया है।

हिन्दी के जैन कवियों ने प्राचीन आचार्यों की इस परम्परा में अनेक पदों की रचना की है। जिनेन्द्र, जिनवाणी या सुगुरु की भक्ति, आत्मस्वरूप का कथन संसार के स्वरूप का वर्णन, नरभव की दुर्लभता, आलोचना-प्रत्याख्यान या ध्यान-समाधि सभी का लक्ष्य एक है -- व्यक्ति की आत्मजागृति।

इन पदोंमें व्यक्ति को आत्मज्ञान, विवेक और वीतराग अवस्था प्राप्त करने को प्रेरित किया गया है। इनके पीछे कवियों का अनुभूत जीवन दर्शन है।

इन पदों की प्रेरणा का प्रभाव इस बात में है कि इनके कवि अडिग विश्वास और श्रद्धा से स्वयं प्रेरित हैं। यही कारण है कि उनकी अभिव्यक्ति में ऊर्जस्विता और सहृदयता सहज अभिव्यक्त हुई है।

इन साहित्य स्रष्टाओं ने अखण्ड चैतन्य आनन्द रूप में आत्मा का ही अपने अन्तस में साक्षात्कार किया और साहित्य में उसी की अनुभूति को मूर्त रूप प्रदान कर सौन्दर्य के शाश्वत प्रकाश की रेखाओं द्वारा वाणी का चित्र अंकित किया। उन्हों ने अपनी अनुभूति को आत्म-साधना का विषय बना कर चिरन्तन भावप्रभात का दर्शन किया। इन्होंने आध्यात्मिक धरातल में अंकुरित अशान्ति एवं असन्तोष का उपचार ऊपरी सतह पर लगे दोषों के परिमार्जन से न कर प्रस्फुटित अनुभूति के झरने में मज्जन कर किया।

श्रौत-स्मार्त तथा बौद्ध परम्परा में निर्गुण और सगुण, ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी, रहस्यवादी, सिद्ध, सूफी, नाथ आदि अनेक धाराएं प्रवाहित हुईं। किन्तु जैन परम्परा में इन प्रवृत्तियों को आत्मसात् कर लेने की ऐसी प्रबल क्षमता विद्यमान रही कि वहां इस प्रकार के पृथक् अभिधान देने की आवश्यकता नहीं हुई। साधना के जो मूलभूत तत्व प्रतिपादित किये गये थे, उनमें जब जब विकार आया या आडम्बर बढ़े तब तब उनका तीव्र विरोध हुआ।

जैन भक्ति और साधना के सन्दर्भ में यह एक आश्चर्यकारी सत्य है कि सम्पूर्ण भारतीय साधना पद्धतियों को तन्त्र की मुक्ति-मुक्ति ने जिस प्रकार अपनी

मौलिकता के पाश में आबद्ध किया, उस प्रकार का जादू जैन साधकों के सिर पर चढ़ कर कभी नहीं बोला । मदिरा, मांस और मैथुन उनकी साधना पद्धति में किसी भी प्रकार सम्मिलित नहीं हो सके । यद्यपि देवी-देवताओं को तीर्थंकरों के साथ मन्दिरों में प्रवेश मिल गया किन्तु अहिंसा के अधिष्ठाता अर्हत् के सान्निध्य के कारण वे प्राणिहिंसा के हेतु नहीं बन सके । भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक भी ऐसी घटना का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, जिसमें किसी जिन मन्दिर में पशु बलि की गयी हो । तन्त्र के प्रबल आक्रमण के समक्ष जब भारतीय मनीषा ने पराजय स्वीकार कर महाप्रसाद के लिए दोनों हाथ फैला दिये हों, ऐसे में भी वीतरागी 'जिन' के उपासक अपने आप को निर्लिप्त बचा पाये, यह भारतीय संस्कृति की अद्वितीय उपलब्धि मानी जानी चाहिए। अहिंसा की प्रतिष्ठा का ऐसा निदर्शन शायद ही कोई और उपलब्ध हो ।

भविष्य के अनुसन्धान कार्यों में श्रमणधारा के उपर्युक्त अवदान का पूर्वाग्रह-मुक्त मूल्यांकन किया जाना चाहिए, जिससे उन तथ्यों की खोज को आगे बढ़ने का क्रम जारी रहे जिन तथ्यों ने जीव और जड़ जगत् की रहस्यमय पहेलियों के समाधान ढूंढ़ निकालने के लिए मनुष्य को युगों-युगों से प्रवृत्त किया हुआ है ।